युगसेतु

वर्ष : 1 अंक : 9 फरवरी, 2012

संपादक
ओम प्रकाश शर्मा

संपादकीय सहयोग
अमरेश कुमार
उमेश प्रसाद सिंह
राजू कुमार
रमेश नारायण

प्रचार/प्रसार
नरेन्द्र कुमार सिंह

कार्यालय
जी-21, प्रथम तल, लक्ष्मी नगर,
दिल्ली-110092
दूरभाष-011-22040692

संपर्क
एन-33, भूतल, लक्ष्मी नगर,
दिल्ली-110092
दूरभाष-9013379808, 9650914297
वेब साइटः www.yugsetu.com
ई.मेल : yugsetu@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक और संपादक डॉ. ओम प्रकाश शर्मा द्वारा, जी 21, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-92 से प्रकाशित एवं एना प्रिंट ओ ग्राफिक्स प्रा. लि. 347 के, उद्योग केन्द्र एक्सटेंशन II, सेक्टर-ईकोटेक-III, ग्रेटर नोएडा, गौतम बुद्ध नगर, उ.प्र. से मुद्रित।

अंदर के पन्नों में .....

ऐसा वसंत कब आएगा

7

अकथ कहानी प्रेम की

9

प्रेम एक है या दो

16

प्रेम कहते हो, वह प्रेम नहीं

24

कानों में कंगना

31

आदमी और हाथी में संघर्ष

35

प्रेम जगत का सार

37

भारतीय क्रिकेट टीम फिर ढेर

44

दिल्ली नगर निगम चुनाव

45

विज्ञान को चुनौती देता वैज्ञानिक

50

कुल पृष्ठ आवरण सहित 52

युग सेतु में लेखकों के प्रकाशित आलेखों के विचारों से संपादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। किसी भी विवाद का निबटारा दिल्ली न्यायालय में होगा।

ऐसा वसंत कब आएगा

❒ राकेश त्रिपाठी

वंसत की मादकता और मारकता पर कविगण प्राचीन काल से बहुत कुछ कहते रहे हैं। वसंत ऋतु संस्कृत, हिन्दी, उर्दू एवं अंग्रेजी साहित्य के कवियों का प्रिय विषय रहा है। संस्कृत एवं हिन्दी कवियों ने प्रेमी जनों के हृदय पर वसंत ऋतु के मादक प्रभाव पर मनोरम पद्य रचे हैं। इस ऋतु में वातावरण सुहावना तथा प्रणय के अनुकूल होता है। सहृदय रसिक नैसर्गिक सुषमा एवं कामदेव के प्रेमी युगल के ऊपर संयोग एवं वियोग दोनों ही दशाओं में पड़ने वाले परिणामों को जानते हैं।

वसंत को 'ऋतुराज' कहा गया है। 'मधुमास' एवं 'कुसुमाकर' पर्यायों से भी इस ऋतु का बोध होता है। फिल्म, साहित्य, संगीत तथा चित्रकला एवं नृत्यकला में भी वसंत को लेकर चित्रण लेखन होता रहा है। स्वयं योगेश्वर कृष्ण ने 'गीता' में अर्जुन को कहा है कि वे ऋतुओं में वसंत हैं। उनका यह रूप दिव्य, भव्य, श्रेष्ठतम, उत्कृष्ट, वरेण्य एवं प्रेय है।

वसंत ऋतु मादक एवं मनोरम इस कारण भी है कि शिशिर एवं निदाघ यानी गर्मी की तीक्ष्णता, वायु के वेग की तीव्रता का इस समय अभाव होता है। दिवस एवं रात्रि दोनों में ही तापमान देह को दारुण न लगकर सुखकर प्रतीत होता है। यह ऋतु प्रेम एवं काम के भावों और स्थितियों को उद्दीप्त एवं कांक्षित करती है। संयोग की स्थिति में पुष्प का परिमल, पराग एवं फल मंजरियाँ अपनी सुरभि से मन और चित्त को आह्लाद एवं मदिरा उन्माद के क्षणों में ठहरने और प्रणय एवं अभिसार के लिए उकसाने में जैसे सायास लगे होते हैं। प्रकृति में तथा मानव-मन में कामदेव (मन्मथ) अपनी लीला रचने में जैसे ससैन्य उतर आते हैं। यह 'अतनु' दिखता तो नहीं, पर आबाल-वृद्ध (विशेषकर तरुण-तरुणियों) को आकुल-व्याकुल कर देता है। वसंत ऋतु में प्रकृति की शोभा अतुलनीय एवं अनुपम होती है। वैसे तो पावस ऋतु भी प्रेमियों के हृदय में गुदगुदी एवं मिलन की उत्कंठा उत्पन्न करती है, किंतु वसंत में संयोग एवं मिलन की आतुर प्रतीक्षा एवं उत्कंठा प्रणयी-जनों को अवसर एवं अनुकूल परिवेश देकर भाव-बोध की कामना उत्पन्न करती है।

वियोग के क्षणों में विरही-विधुर एवं बिछुड़े, परदेस बसे, छूटे-टूटे भग्न-हृदय एवं परित्यक्त युगल के दिलों में यह बहार का मौसम दुश्मन की तरह वार करता है। संयोग में वसंत ऋतु भली लगती है। प्रकृति की शोभा मन मोहती है, कोयल की कूक कानों में रस घोलती है, वृन्त पर झूलती पुष्प राशि तथा फल संभार मन में नव आशा का संचार करता है। वियोग के क्षण दुर्वह, दुस्सह होते हैं। ये सभी उपादान चित्त में उद्वेग एवं विक्षोभ विरह या प्रिय से विमुक्त होने की कसक छोड़ देते हैं। टीस या कसक कालांतर में मधुर स्मृति या कटु-तिक्त अनुभूतियाँ बनकर व्यक्ति के निजी चरित्र या व्यक्तित्व को प्रभावित करती रहती हैं। वसंत को लेकर अलग-अलग भाव, विचार अथवा अनुभूति रहती है। सबके लिए वसंत ऋतु सुखद हो, यह आवश्यक नहीं। वसंत ऋतु

प्रकृति में तथा मानव-मन में कामदेव (मन्मथ) अपनी लीला रचने में जैसे ससैन्य उतर आते हैं। यह 'अतनु' दिखता तो नहीं, पर आबाल-वृद्ध (विशेषकर तरुण-तरुणियों) को आकुल-व्याकुल कर देता है। वसंत ऋतु में प्रकृति की शोभा अतुलनीय एवं अनुपम होती है। वैसे तो पावस ऋतु भी प्रेमियों के हृदय में गुदगुदी एवं मिलन की उत्कंठा उत्पन्न करती है, किंतु वसंत में संयोग एवं मिलन की आतुर प्रतीक्षा एवं उत्कंठा प्रणयी-जनों को अवसर एवं अनुकूल परिवेश देकर भाव-बोध की कामना उत्पन्न करती है।

आह्लाद या विषाद का कारण बनती रही है।

भारतवर्ष में वसंत महोत्सव को बहुत धूमधाम से मनाया जाता था। संस्कृत

नाटकों में 'कौमुदी महोत्सव' को अति भव्य समारोह के रूप में राजा और रंक, पौर एवं जानपद, नर व नारी, आबाल-वृद्ध, समाज के समस्त वर्गों एवं जातियों के लोग मनाया करते थे। वसंत ऋतु भारतीय संस्कृति व धर्म की जीवंतता को साकार व सप्राण और पुनर्नवीकृत करने के लिए जानी जाती है। फाल्गुन एवं चैत्र ये दो मास इस ऋतु के लिए अभिहित हैं। फाल्गुन मास में होली में हँसी-ठिठोली, छेड़छाड़, मौज-मस्ती करके उन्मुक्त व्यवहार करने की भी कुछ छूट समाज देता रहा है। यह त्योहार 'प्राचीन मदनोत्सव' का ही परिष्कृत-परिवर्द्धित रूप है।

वसंत के आगमन की सूचना देने वाला शिष्ट, संयत और उल्लास-आह्लाद के साथ धार्मिक विधि-विधान सहित मनाया जाने वाला पर्व 'वसंत पंचमी' है। इस दिन लोग 'सरस्वती पूजा' करते हैं तथा नाना मंगल-कार्यों, संस्कारों और अनुष्ठानों को संपन्न करते हैं। पूर्वी भारत में तथा उत्तर भारत के कुछ राज्यों में पाठशालाओं में 'सरस्वती-पूजा' संपन्न होती है, अवकाश देकर तरुण-तरुणियों को पीत वस्त्र धारण करके परस्पर अभिवादन-अभिनंदन करने को कहा जाता है। गृह-प्रवेश, नन्हें-मुन्ने का नामकरण, चूड़ाकर्म संस्कार, विवाहादि के लिए यह दिन बड़ा शुभ माना जाता है।

यह ऋतु मनोरम प्राकृतिक सुषमा एवं अनुकूल समशीतोष्ण तापमान के कारण पसंद की जाती है। लोगों की उत्कट लालसा रहती है कि झुलसा देने वाली गर्मी का मौसम टल जाए, देर से आये। उसी प्रकार ठंड का ठिठुराने-कँपाने वाला जाड़ा जल्द चला जाए तथा वसंत अपने पूर्ण यौवन को आते ही पा ले। इस ऋतु का आम्र-मँजरियों की बौराने वाली सुगंध और कोयल की कूक सुनकर आह्लादित करने से जितना संबंध है, उतना ही मौसम के बदलाव से शरीर में अनेक रोगों के सहसा उत्पन्न होने से भी गहरा नाता जुड़ा है। आयुर्वेद में वसंत में ही कई रोग होते बताये गए हैं तथा इस ऋतु में वे घोर कष्ट देते हैं। इस कारण वैद्यों की सखी कही जाती है, उनका व्यवसाय इस अवधि में खूब फलता-फूलता है।

भारत की संस्कृति और परम्परा में वसंत ऋतु का महत्त्व सर्वविदित है। उन्नीसवीं सदी के अंत तथा बीसवीं सदी के आरंभ में वसंत ऋतु पूर्ण उत्साह उल्लास से मनायी जाती थी। शहरों के विद्यालय में छात्र-छात्राएँ विगत दो दशक पूर्व तक इसमें पड़ने वाले सभी पर्व यथा वसंत पंचमी में निरपवाद रूप से भाग लेते थे।

गाँवों और कस्बों में तो बीसवीं सदी के अंत तक इन पर्वों और ऋतुओं का आनंद लोग उन्मुक्त और सहज भाव से उठाते थे, किंतु उद्योगीकरण एवं नगरीकरण के विस्तार ने इनकी सरसता व जीवंतता को धीरे-धीरे बहुत कम कर दिया है; परंतु यह वसंत सबके जीवन का वसंत हो-ऐसी कामना आवश्यक है। कुछ ही लोग इसके अचानक आगमन से अभिभूत न हों–

मधुमय वंसत जीवन वन के
वह अंतरिक्ष की लहरों में,
कब आए थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में।

बल्कि, यह ऐसा वंसत हो जो गरीब, शोषित, दमित व शासित सबके जीवन में खुशियों की हरियाली लाए। कवि के उद्बोधन के माध्यम से कहा जा सकता है–

ऐसे वसंत कुछ चले गए,
जो कुछ फूलों को खिला गए
मानव प्रसून जो ऊपर थे,
उनको श्री सौरभ दिला गए।
नीचे रहने वालों पर भी,
क्या कोई ममत्व दिखलाएगा?
ऐसा वसंत कब आएगा? ☆

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं और भारत सरकार के वित्त मंत्रालय में कार्यरत रहे हैं। कवि एवं चिंतक होने के साथ अरसे तक समाजवादी आंदोलन से जुड़े रहे हैं।)

गाँवों और कस्बों में तो बीसवीं सदी के अंत तक इन पर्वों और ऋतुओं का आनंद लोग उन्मुक्त और सहज भाव से उठाते थे, किंतु उद्योगीकरण एवं नगरीकरण के विस्तार ने इनकी सरसता व जीवंतता को धीरे-धीरे बहुत कम कर दिया है; परंतु यह वसंत सबके जीवन का वसंत हो-ऐसी कामना आवश्यक है।

अकथ कहानी प्रेम की

❐ ओम प्रकाश शर्मा

अखंडता, अनन्तता और परस्पर सम्बद्धता का सिद्धांत प्रेम के समक्ष भी समुपस्थित है। जैसे सत्य और ज्ञान को अनन्त-अखंड्य कहा गया है, वैसे ही प्रेम को भी। फिर जो अखंड्य और अनन्त हो, उसके बारे में कुछ तो कहा जा सकता है, पर सब कुछ नहीं । इन्हीं विशेषताओं से संयुक्त होने के कारण सत्य, ज्ञान और प्रेम में ईश्वर की व्याप्ति दर्शायी गई है, क्योंकि वह स्वयं भी इन्हीं गुणों से युक्त है। उसे भी सत्य, ज्ञान और प्रेम की तरह अवर्णनीय कहा गया है, अर्थात् इनके बारे में कहा तो बहुत कुछ गया है, परंतु वह अंतिम और सर्वस्व नहीं है। वास्तव में इन्हें कहने योग्य नहीं, महसूस करने योग्य माना गया है और जो अनुभूति हो, उसे ठीक उसी रूप में कहा जाए- यह संभव नहीं और विशिष्ट अनुभूति भी सर्वसुलभ कहाँ है? इसलिए कबीर दास जी कहते हैं–'अकथ कहानी प्रेम की, कछू कही नहिं जाए।' फिर भी इसकी असंख्य कथाएँ और प्रेरक व्यवहार के दृष्टांत उपलब्ध हैं। फिल्म, साहित्य से लेकर धर्म-अध्यात्म तक, व्यक्ति से विश्व स्तर तक इसके अनेकरूपी कार्य रूप प्राचीन से वर्तमान तक विद्यमान रहे हैं। यह ठीक है कि प्रेम-प्रचलित किवंदतियाँ, कथाएँ, कार्य व्यवहार कई बार प्रेम की धारा से इतने प्रतिकूल होते हैं कि इन्हें प्रेम की विशालता में समेटना टेढ़ी खीर होता है। लेकिन अखंडता के विचार सूत्र के कारण प्रतिकूल भाव होकर भी प्रेम से जुड़े होते हैं। इसलिए हिन्दी के कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने इसे बिना सूत्र वाला कहकर भी सभी प्राणियों को एकसूत्र में बाँधने वाला कहा है–

प्रेम सदा तुम ही असूत्र हो
उर-उर के हीरों के हार,
गूँथे हुए प्राणियों को भी
गूँथे न कभी, सदा ही सार।

जाहिर है कि यहाँ जिस प्रेम की बात की जा रही है, वह कुछ लोगों के, आपसी प्रेम तक सीमित नहीं है, बल्कि यह प्रेम असीम है। निश्चय ही इसमें नर-नारी का प्रेम भी सम्मिलित है। पूर्ण प्रेम में पुरुष में स्त्री संपूर्ण विश्व को समाहित पाएगी, तो नर नारी में पूरी सृष्टि समाया हुआ देखेगा। यह यात्रा अनेक से एक की ओर और एक से अनेक की ओर हो सकती है। साधारणत: यह व्यक्ति से विश्व की ओर होती है। असाधारण रूप में कभी-कभार समष्टि से व्यष्टि की ओर भी होती है। पाश्चात्य विद्वान जान बेले के शब्दों की तरह 'यह प्रेम व्यक्ति को विश्वव्यापी बना देता है।' ऐसी स्थिति में व्यक्ति दैहिक रूप से कामुक नहीं होता, विराट प्रेम की रसालता का अनुभव करते हुए नैसर्गिक प्रेम के सुखों का आनंद उठाता है। फलत: उसकी आत्मा को प्रेम का परितोष प्राप्त होता है। यहीं पारमार्थिक सत्य का दिग्दर्शन होता है। यह कोई वायवीय कल्पना नहीं, वरन् उस कल्पना की अनुभूति के आनंद का क्षेत्र है। ऐसे में प्रेमी व्यक्ति का बात व्यवहार बिल्कुल बदल जाता है; परंतु यह बदलाव उच्चतम स्तर का होता है। कबीर दास जी कहते हैं–

राम बुलाया भेजिया कबिरा दीना रोय।
जो सुख प्रेमी संग में सो बैकुण्ठ न होय।।

कबीर समाजचेता और भक्त एक साथ हैं। सांसारिक सुख-सुविधाओं की निस्सारता का उन्हें बोध भी है और संसार में व्याप्त अनीति, अत्याचार, पाखण्ड, आडंबर और असमानता का क्षोभ भी । उनका समाजबोध भी अद्वितीय है और अध्यात्म लोक भी यथार्थवादी संभावनाओं से युक्त है। वही कबीर जो पिया के रूप में राम के आगमन पर स्वागत के लिए तत्पर होते हैं, यहाँ राम के बुलावे पर अफसोस व्यक्त करते हैं, क्योंकि प्रेमी के रूप में राम स्वयं कबीर के संग हैं, फिर बुलावे पर क्या जाना? राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने ठीक दूसरे ढंग से जगत और प्रिय-प्रिया की एकाकारता सिद्ध की है–

जगत प्रेम प्रथम लोचन में
तब तरंग-निभ मन में,
प्रथम दीखती प्रिया
एक देही, फिर व्याप्त भुवन में।

प्रिय या प्रिया को पूरे ब्रह्मांड में देखना और पूरे संसार को उसमें समाविष्ट देखना, हँसी-ठठा का खेल नहीं। 'प्रेमी' या

प्रिय या प्रिया को पूरे ब्रह्मांड में देखना और पूरे संसार को उसमें समाविष्ट देखना, हँसी-ठठा का खेल नहीं। 'प्रेमी' या 'प्रेमिका' का शारीरिक रूप तो ज्यादातर लोगों को उपलब्ध हो ही जाता है; परंतु ये लोग निचले दर्जे के दैहिक सुखों तक ही आजन्म सिमटे रहते हैं, संपूर्ण संसार की ओर कैसे बढेंगे? वास्तव में इन्हें तो अपने एकाध प्रिय-प्रिया के दैहिक सौंदर्य का पान भी अपनी उच्चता का स्पर्श नहीं करा पाता, जैसा कि विशुद्ध भोगवादियों को उपलब्ध होना चाहिए। यदि ऐसा भी होता, तो विशुद्ध प्रेम का मार्ग अवश्य प्रशस्त होता, जिस के सुख-आनंद की चाह में कुछ और देखना मुश्किल होता है। दिनकर जी के अनुसार यह ऐसा सुख होता है, जहाँ मृत्यु की ओर जाने वाले भी इस प्रेम-धरातल पर ठहर कर पल-दो-पल विश्राम कर लेना चाहते हैं।

'प्रेमिका' का शारीरिक रूप तो ज्यादातर लोगों को उपलब्ध हो ही जाता है; परंतु ये लोग निचले दर्जे के दैहिक सुखों तक ही आजन्म सिमटे रहते हैं, संपूर्ण संसार की ओर कैसे बढेंगे? वास्तव में इन्हें तो अपने एकाध प्रिय-प्रिया के दैहिक सौंदर्य का पान भी अपनी उच्चता का स्पर्श नहीं करा पाता, जैसा कि विशुद्ध भोगवादियों को उपलब्ध होना चाहिए। यदि ऐसा भी होता, तो विशुद्ध प्रेम का मार्ग अवश्य प्रशस्त होता, जिसके सुख-आनंद की चाह में कुछ और देखना मुश्किल होता है। दिनकर जी के अनुसार यह ऐसा सुख होता है, जहाँ मृत्यु की ओर जाने वाले भी इस प्रेम-धरातल पर ठहर कर पल-दो-पल विश्राम कर लेना चाहते हैं–

और वक्ष के कुसुम-कुंज सुरभित विश्राम भवन ये,
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रांति दूर करते हैं।

वस्तुत: यहाँ मात्र स्थूल शरीर का ही सुख नहीं होता। नहीं, स्थूल शरीर का भी सुख होता है, जहाँ प्रेमी-प्रेमिका का भाव सिरे से गायब रहता है। फिर भी ऐसे सुखों को ही छोड़कर कौन स्वर्ग भी जाना चाहेगा। यहाँ प्रेम भाव बिल्कुल नहीं है, देह-भाव जरूर रहता है। यह तो सबमें रहता ही है। यदि नर-नारी के मिलन मात्र को जगत-प्रेम का साक्षात्कार मान लिया जाए, तो ऐसे जगत-प्रेम का साक्षात्कार अधिकतर लोगों को होना चाहिए, लेकिन ऐसा है नहीं। पुरुष चाहे अन्य पुरुषार्थों से कितना ही दूर क्यों न हो और नारी चाहे नारीत्व के गुणों से कितनी ही रिक्त क्यों न हो, लेकिन दैहिक काम-कला निचले स्तर पर ही सही, उन्हें आती ही है और भाती भी है। दुष्ट, वंचक, तानाशाह, भ्रष्टाचारी, अपराधी, चोर, बेईमान, लोभी सब शारीरिक प्रेम से बँध ही जाते हैं। वे भी इसमें उतने ही आसक्त होते हैं, जितना कोई दूसरा। कई बार वे इसमें भी अपनी अधिक दक्षता दिखाते हैं। वे भी सारे बुरे कार्य छोड़कर यहाँ विश्राम करते हैं। लेकिन यह प्रेम नहीं है, बल्कि तुलसी के शब्दों की तरह 'कामिही पियारी नारी जिमि लोभी के प्रिय दाम' वाली कहावत चरितार्थ करते हैं। वैसे तो जो जितना पराक्रमी, प्रतापी और विक्रमी है, उसमें यह काम भाव पूर्णता में होता है। दिनकर जी के शब्दों में–

तपोनिष्ठ नर का संचित तप और ज्ञान ज्ञानी का,
मानशील का मान गर्व गर्वीले अभिमानी का,
सब चढ़ जाते भेंट सहज ही प्रमदा के चरणों पर,
कुछ भी नहीं बचा पाता नारी से उद्वेलित नर।

यह एक श्रेष्ठ नर का नारी के प्रति सहज आकर्षण है और उसकी श्रेष्ठता, दक्षता का पूरा परिचय यहाँ भी मिलता है। वस्तुत: काम के लिए जिस संपूर्णता की जरूरत होती है, वह उसके यहाँ मौजूद रहता है, इसके अभाव में तो–

काम-कृत्य वे सभी दुष्ट हैं, जिनके संपादन में
मन-आत्माएँ नहीं, मात्र दो वपुस मिला करते हैं।

प्रेम की प्रचलित अवधारणा स्त्री-पुरुष के संदर्भ में ही ज्यादा स्वीकृत है। जहाँ इसका विश्व-व्यापी रूप देखा भी गया है, वहाँ भी इसे व्यवहार में बहुत ही कम उतारा गया है और जहाँ यह कुछ व्यवहृत हुआ है, वहाँ भी बाह्य रूपों के प्रदर्शनपूर्ण आचरण पर अधिक जोर रहा है। 14 फरवरी को जिस वेलेन्टाइन डे को मनाया जाता है, वह भी स्त्री-पुरुष के स्वतंत्र प्रेम की वकालत के लिए ही मनाया जाता है। इस प्रेम से शिकायत किसे हो सकती है, लेकिन यह प्रदर्शन तक ही सीमित रह जाए, तो इसे प्रेम की बजाय धोखा या नासमझी ही कहा जा सकता है, जिसमें विश्व प्रेम की ओर बढ़ने का कोई मार्ग ही नहीं है। बिना प्रेम भी नर-नारी मिलन होता है। यह उन्मुक्त-स्वतंत्र प्रेम यदि सही होता तो धरती के सारे अत्याचार, अनाचार, झूठ, छल-छद्म, अपराध खत्म हो गये होते या इसकी कमी तो अवश्य ही होनी चाहिए थी, लेकिन इसकी कमी की कौन कहे, दिनोंदिन ऐसे मामले तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। आधुनिक अर्थ वाले प्रेम भाव का जैसे-जैसे प्रचार-प्रसार और फैलाव हो रहा है, वैसे-वैसे वास्तविक प्रेम का संकुचन हो रहा है, परिवार और समाज में समस्याएँ बढ़ रही हैं। इसका

अर्थ यह हुआ कि यह प्रेम कहा जाने वाला भाव प्रेम है ही नहीं, अन्यथा कोई कारण नहीं कि समाज में ऐसी समस्याएँ बढ़ें। अकेले एक प्रेम में ही इतनी ताकत है जिससे समाज की सारी समस्याएँ खत्म हो जाएँ; किंतु यह अपनी पूर्णता में उदित हो तब। प्रेम भाव पर ज्ञान की उपलब्धि स्वत: होती है, बुरे भाव मिट जाते हैं, स्वत्वबोध जागृत होता है, फिर अपराध किसके प्रति और किसके लिए किया जाएगा। एक प्रेम के आने से सारे अच्छे गुणों की ऊँचाई हासिल होती है, व्यक्ति आनंदित होकर समाज को स्वर्ग-सदृश बना सकता है। श्रीमद्भगवतगीता के अनुसार, ऐसा सद्प्रेम सबमें ईश्वर को और ईश्वर में ही सबको देखता है। संपूर्ण ज्ञान यहीं है–

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

जिस प्रेम के बल पर हम समाज की सारी समस्याओं के समाधान को यथार्थ रूप देना चाहते हैं, वह आज कितना व्यवहार में है- यह देखना जरूरी है। इस प्रकार देखने पर बेहद निराशा दिखाई देती है। यह दूसरी समस्याओं का निदान क्या उपलब्ध कराएगा, खुद बहुत-सारी समस्याएँ लेकर उपस्थित हो रहा है। इसके वर्तमान धारक प्रेमी-प्रेमिका स्वयं इस 'प्रेम-रोग' की चपेट में हैं, परिवार और समाज तो इस नये प्रेम के कारण परेशान है ही। अब जो प्रेम खुद समस्याग्रस्त है, वह दूसरी समस्याओं को घटाना तो दूर, उसे और बढ़ाएगा ही और यही हो रहा है। आजकल 'प्रेम' होने के कारण हत्याएँ, आत्महत्याएँ, चोरी-डकैती, मुकदमे, पारिवारिक विघटन, जातीय तनाव, अनैतिक काम-संबंध, द्वेष-दुश्मनी, दायित्वहीनता, भ्रष्टाचार, अवैध संतान, असुरक्षा, बच्चों की ठीक से परवरिश

न होने जैसी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। अब इस 'प्रेम' का क्या किया जाए? इसे नए ढंग से परिभाषित किया जाए या छोड़ दिया जाए? लेकिन इसे कौन परिभाषित करेगा, उसकी परिभाषा कौन मानेगा और इससे छुटकारा पाना भी आसान कहाँ है? बहुत लोग तो ऐसे प्रेम से छुटकारा पाने की कोशिश में फँस जाते हैं, फँसा दिए जाते हैं। जो भी हो, इसका निदान तो ढूँढ़ना ही पड़ेगा, क्योंकि यह जीवन से अभिन्न रूप में जुड़ा बड़ा संवेदनशील पक्ष है।

प्रेम को लेकर समस्याएँ विश्व-समाज में सदैव रही हैं। पौराणिक कथाएँ, ऐतिहासिक तथ्य और लोक कथाएँ इसके साक्ष्य हैं। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि प्रेम समस्याएँ उत्पन्न होने के मुख्यत: दो कारण रहे हैं, पहला, प्रेम को दैहिक काम, सौंदर्य, सम्मान से जोड़ा गया। दूसरी समस्या, जो सार्वभौमिक है, वह है व्यक्ति के आत्म प्रेम के अन्तर्गत सर्वात्म-प्रेम के प्रति सही नजरिये का अभाव। प्रेम के गलत संदर्भों में तो समाज से टकराव होता है, लेकिन तब भी

जिस प्रेम के बल पर हम समाज की सारी समस्याओं के समाधान को यथार्थ रूप देना चाहते हैं, वह आज कितना व्यवहार में है- यह देखना जरूरी है। इस प्रकार देखने पर बेहद निराशा दिखाई देती है। यह दूसरी समस्याओं का निदान क्या उपलब्ध कराएगा, खुद बहुत-सारी समस्याएँ लेकर उपस्थित हो रहा है। इसके वर्तमान धारक प्रेमी-प्रेमिका स्वयं इस 'प्रेम-रोग' की चपेट में हैं, परिवार और समाज तो इस नये प्रेम के कारण परेशान है ही। अब जो प्रेम खुद समस्याग्रस्त है, वह दूसरी समस्याओं को घटाना तो दूर, उसे और बढ़ाएगा ही और यही हो रहा है। आजकल 'प्रेम' होने के कारण हत्याएँ, आत्महत्याएँ, चोरी-डकैती, मुकदमे, पारिवारिक विघटन, जातीय तनाव, अनैतिक काम-संबंध, द्वेष-दुश्मनी, दायित्वहीनता, भ्रष्टाचार, अवैध संतान, असुरक्षा, बच्चों की ठीक से परवरिश न होने जैसी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। अब इस 'प्रेम' का क्या किया जाए? इसे नए ढंग से परिभाषित किया जाए या छोड़ दिया जाए? लेकिन इसे कौन परिभाषित करेगा, उसकी परिभाषा कौन मानेगा और इससे छुटकारा पाना भी आसान कहाँ है? बहुत लोग तो ऐसे प्रेम से छुटकारा पाने की कोशिश में फँस जाते हैं, फँसा दिए जाते हैं।

कोई-न-कोई छोटा-बड़ा पक्ष इसके पक्ष में जरूर खड़ा रहता है, लेकिन विशाल-विस्तृत सर्वव्यापक प्रेम के धारक की टकराहट जब समाज से होती है, तो उसकी ओर कोई खड़ा नहीं होता, क्योंकि उसकी प्रेम-संवेदना की गहराई की परख-शक्ति समाज के पास नहीं होती। समाज अपने सपाट नियमों पर उसे नचाना चाहता है और इसके लिए वह अपनी पूरी नैतिक-अनैतिक शक्ति लगा देता है। उसे यह हजम नहीं होता कि कोई सर्वव्यापक प्रेम का आराधक-धारक उसके सतही और क्षुद्र प्रेम-कानूनों की अवहेलना करे। इसमें शासक वर्ग का अहं भी शामिल होता है। सदियों पूर्व कलाडियस द्वितीय ने इसीलिए तो संत वेलेन्टाइन को जेल में डाल दिया था, फाँसी पर लटका दिया था। पर शिवि, दधीचि और वेलेन्टाइन जैसे लोग तो कबीर की तरह वहाँ भी 'शूली ऊपर सेज पिया की, किस विध मिलना होय'की जिज्ञासु उमंग से भरे होते हैं।

समाज में सच्चे प्रेम के लिए स्थान ही कहाँ है? चाहे वह सर्वव्यापक प्रेम हो या स्त्री-पुरुष का प्रेम, यद्यपि दोनों परस्पर पूरक हैं, तथापि अलग मानने पर सर्वसुलभ स्त्री-पुरुष प्रेम के उत्कृष्ट उदाहरण समाज में कितने हैं? इस प्रेम के धरातल पर न तो स्त्री खड़ी उतरती है और न पुरुष। यहाँ यदि एक सच्चा प्रेम वाला या वाली है भी, तो दूसरा कहाँ वैसा मिलती या मिलता है, फलतः इस प्रेम की पहली बाधा आपका आलंबन ही ठहरता है। अब जब जिसको आधार बनाकर चाह हो, तो सर्वव्यापक प्रेम का सफर तय करना चाहते हैं, यदि वहीं काँटे चुभने लगें तो आगे की यात्रा का क्या हाल होगा? यह समझना मुश्किल नहीं है। हो सकता है कि विराट् प्रेम की यात्रा का अंत वहीं हो जाए और ऐसा हो जाए कि आप चाहकर भी आगे न बढ़ें। 'दूध का जला, छाँछ फूँककर पीएगा', तो प्रेम कैसे होगा? कहते हैं, 'प्रेम एक ही बार किया जाता है या होता है' और यदि इसी में धक्का लग जाए तो इसका मतलब कि प्रेम-परीक्षा से आप सदा के लिए मुक्त हो गए। यदि आप दूसरी जगह अपनी प्रेम-कला आजमाना भी चाहते हैं, तो पहले का अनुभव उन्मुक्त, विश्वासी और शंकाहीन नहीं रहने देगा। आप सावधान सचेत रहेंगे और यह सतर्कता सच्चे प्रेम का जानी दुश्मन है, क्योंकि प्रेम-मार्ग सहज, सरल और समर्पण की माँग करता है। घनानंद के शब्दों में 'अति सूधो को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं', अर्थात्, प्रेम का मार्ग इतना सीधा सच्चा है कि छल-कपट की कौन कहे, अपनी 'समझदारी' को भी ताक पर रखना पड़ता है, तभी सच्चा प्रेमानंद उपलब्ध होता है। और यदि यहीं धोखा खा गए, तो गालिब के शब्दों में जीवन भर अपने को कोसते रहेंगे–

इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया,
वरना हम भी आदमी थे काम के।

इसीलिए पूर्ण प्रेम उसे ही माना गया है, जहाँ संदेह खत्म हो जाता है। राजशेखर का भी यही कहना है कि प्रेम वह भाव है, जिसके उत्पन्न होने पर दो व्यक्तियों का मन विचार व संदेह आदि भावों से शून्य हो जाता है और आनंद का स्रोत स्वरूप बनने लगता है। जो भी हो, प्रेम और विवाह करना और करके नाकाम रहना, न करने से बेहतर माना जाता है। तब कम-से-कम इसकी अच्छाइओं-बुराइयों का अनुभव तो होता है, ठीक उसी तरह जैसे परीक्षा देकर अनुतीर्ण होना परीक्षा न देने से बेहतर है। लेकिन यह नियम सपाट ही है, क्योंकि हर चीज को आजमाया नहीं जा सकता और हर चीज आजमाने की होती भी नहीं है, इसलिए सब कुछ परीक्षण से गुजरे- यह उचित नहीं। परीक्षा की स्थिति अविश्वास-शंका से उत्पन्न होती है और प्रतियोगिता छाँट कर चयन करने की प्रवृत्ति पर आधारित होती है। विश्वासी और स्थिरप्रज्ञ के लिए परीक्षा का कोई मायने नहीं, लेकिन समाज को विश्वास दिलाने के लिए इसकी अहमियत है। सामूहिक मन सपाट चीजों को ही देखता है, देख सकता है। इसलिए जो दृढ़ निश्चयी, आत्मविश्वासी और स्थिर बुद्धि वाला है, वह हो सकता है कि परीक्षा में फेल हो जाए, पर जीवन में सदैव अग्रणी रहे। इसलिए परीक्षा में पास करना सामान्य दुनियादारी की कसौटी पर तो ठीक है, लेकिन जीवन जीने की कला का विस्तार इससे कहीं बहुत-बहुत आगे है। प्रेम इसी कला का नाम है।

जिंदगी में प्रेम भाव एकाएक उत्पन्न नहीं होता। सम्मोहन, आकर्षण, मोह, राग, रति, वासना अवश्य अचानक उत्पन्न हो सकती है, लेकिन जीवन में प्रेम का परिष्कार और विस्तार धीरे-धीरे होता है।

सामान्यतः यह माना जाता है कि जिससे हम खूब प्रेम करते हैं, वह हमारे पास रहे। लोकसभा में विपक्ष की नेता सुषमा स्वराज मानती हैं कि किसी की अनुपस्थिति आपको या आपकी

अनुपस्थिति किसी को रिक्तता का एहसास दिलाए, तो इसका मतलब है कि परस्पर प्रेम है। श्यामसुंदर दास के मत में भी प्रेम वह भाव है, जिसके अनुसार किसी वस्तु या व्यक्ति के संबंध में यह इच्छा होती है कि वह सदा हमारे पास या साथ रहे; उसकी वृद्धि, उन्नति या हित हो, अथवा उसका हम भोग करें। प्रसिद्ध आलोचक रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में, 'किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति लोभ को प्रेम कहते हैं। परंतु यह लोभ लोक प्रचलित अर्थानुसार अर्थ अथवा स्वार्थलोलुपता का पर्याय न होकर अतिशय आकर्षणमयी रुचि का द्योतक है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। किसी वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे अच्छी से अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, वही रुचि या प्रेम है। दूसरे शब्दों में विशिष्ट व्यक्ति या वस्तु के प्रति जो लोभ सात्त्विक रूप प्राप्त करता है, उसे प्रीति या प्रेम कहते हैं।' शुक्ल जी यह भी कहते हैं कि 'प्रेम एकांत चाहता है और श्रद्धा विस्तार', अर्थात् जिसके प्रति हम श्रद्धा रखते हैं, उसके प्रति चाहते हैं कि सब लोग श्रद्धा रखें; परंतु जिससे प्रेम करते हैं, चाहते हैं कि उसे कोई आँख उठाकर भी न देखे।

प्रेम को अनेक रूपों में देखा गया है। यह हृदय को कोमल बनाने वाला एवं ममत्व को जन्म देने वाला और गहन आत्मीयता व ऐक्य की अनुभूति कराने वाला माना जाता है। इसे तादात्म्य स्थापित कराने वाला आर्द्रता से परिपूर्ण अनश्वर कहा गया है। इसके उपादानों में सौंदर्य, प्रकृति, काम, रस आदि को दर्शाया गया है। सौंदर्योपासक कवियों– रवीन्द्र नाथ टैगोर और जयशंकर प्रसाद ने सौंदर्य के आनन्द को प्रेम का कारण बताया है। महात्मा गाँधी की नजर में मनुष्य को अपनी ओर खींचने वाला जगत में असली चुंबक प्रेम है। जहाँ कहीं उसमें विघ्न आता है, वहाँ विरह विद्वेग उत्पन्न होता है।

भारतीय शास्त्र-ग्रंथों में मनुष्य का स्वरूप मूलत: असंग बताया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में 'असंगों ह्ययं पुरुष:' कहा गया है, अर्थात् निस्संगता, अकेलापन मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है, वहीं प्रेम पूर्ण लगाव भी स्वाभाविक गुण है। इसे समझना जरूरी है। ये दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं। विरोधी लगते हैं, पर है नहीं। सबसे पहले यह जानें कि जो अकेले नहीं रह सकता, जो अपने साथ नहीं रह सकता, वह दूसरों के साथ भी वास्तविक रूप में नहीं रह सकता। नाटक करते हुए रह सकता है, और रहता है। मतलब यह कि जो अपने से प्रेम नहीं कर सकता, वह दूसरे से भी नहीं कर सकता। जिसे आत्म-प्रेम नहीं, वह सर्वात्म-प्रेम को कभी उपलब्ध नहीं हो सकता। आत्मबल से आदमी महान बनता है और आत्म-प्रेम से ही विश्व प्रेमी। जयशंकर प्रसाद 'स्कंदगुप्त' में यही लिखते हैं– 'विश्व प्रेम, सर्वहित कामना परम धर्म है; परंतु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो।' अपने पर प्रेम का अर्थ स्वयं की स्वतंत्र आत्म चेतना के प्रेम से है। इस प्रेम के लिए चुंबकीय आकर्षण वाले प्रेम से विलग भी रहना पड़ता है और इसमें हमें त्याग, बलिदान की आत्मतृप्ति मिलती है। मोह-आसक्ति में विरह-वियोग दु:ख उत्पन्न करता है, जबकि प्रेम में आनंद। इसलिए रति शृंगार में तो वियोग-संयोग का फर्क है, लेकिन प्रेम की उदात्तता में ऐसा कोई फर्क नहीं होता। बंगला के प्रसिद्ध कथाकार शरदचन्द्र जो प्रेम कथाओं के समर्थ प्रस्तोता हैं, उन्होंने लिखा है कि 'बड़ा प्रेम केवल पास ही नहीं खींचता, वरन् दूर भी ठेलता है।' इसलिए प्रेम बंधन नहीं है, आकर्षक संयोग का कैदखाना नहीं है, वरन् स्वतंत्र आत्मा के लिए उन्मुक्त आसमान है। ऐसे में जितना प्रेम बढ़ेगा, उतनी ही आत्मा स्वतंत्र होगी और जितनी आत्मा स्वछंद होगी, उतना ही प्रेम बढ़ेगा। इसीलिए पराधीन, लोभी, मोही व्यक्ति कभी प्रेम की असीमता तक नहीं पहुँच सकता। दास कभी प्रेम नहीं कर सकता, प्रेम कभी स्वामित्व भाव उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि स्वामी

अहं की मृत्यु, भिन्नता व द्वयता के विभ्रम के नष्ट होने पर पूरी एकाकारता होती है। बहुत लोगों को शिकायत रहती है कि उनके प्रेमी या प्रेमिका उन्हें 'आई लव यू' नहीं कहते, किसी गलती पर 'सॉरी' और कृतज्ञ होने पर 'थैंक क्यू' नहीं बोलते। दूसरे को कहना चाहिए या नहीं, यह तो बाद का विवाद है, पहले ऐसा कहवाने की इच्छा रखना एक तरह का सामंती भाव है। प्रेम की कृत्रिम औपचारिकता ऊपर-ऊपर तैर रहा होता है, इसलिए ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। वास्तव में जो प्रेमी हैं, उन्हें ऐसा कहने-कहवाने की जरूरत नहीं।

बनने की चाह अहंकार के कारण उत्पन्न होती है और प्रेम 'अहं' का बेशर्त स्वत: विसर्जन है। इसलिए जहाँ मिलन की चाह प्रेम की प्रारंभिक पाठशाला है, वहीं चाह की समर्पण-समाप्ति प्रेम का उत्कर्ष रूप। यहाँ सारी कामनाएँ-आकांक्षाएँ खत्म हो जाती हैं, सिर्फ प्रेम की तृप्ति होती है। कृष्णप्रेमी भक्त रसखान ने ऐसा ही विचार व्यक्त किया है–

बिन गुण जीवन रूपधन, बिनु स्वारथ हित लानि।
शुद्ध कामना से रहित, प्रेम सकल रसखानि।।

ऐसी स्थिति में प्रेमी व्याकुल नहीं होता, चाहे प्रेम पात्र हो या न हो। होने या न होने से उस पर ज्यादा फर्क नहीं पड़ता। भगवद्गीता के अनुरूप वह परम शांति को प्राप्त व्यक्ति होता है–'सृहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति।' प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति में सम अवस्था में रहता है–'न प्रहृत्ष्येत्प्रियं प्राप्य नो द्विजे प्राप्य चाप्रियम।' यह प्रेम अंतरात्मा में सुख-आनंद-संतोष देने वाला होता है। इसी प्रेम का उत्कर्ष तो भक्ति है, जहाँ निस्संग रूप में किसी से कोई मतलब नहीं रह जाता, लेकिन गहन आत्मीयता सर्वत्र रहती है–'नैवतस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।' प्रेम की प्राप्ति होने से सब कुछ भगवान ही है– ऐसा भान होता है। इस रूप में प्रेम और भक्ति संपूर्ण साधनों के साध्य भी हैं, और साधन भी। तुलसीदास कहते हैं–

तुलसी ममता राम सो, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार।।

प्रेम में समीपता एवं भोग वाली बात भी कुछ ही वस्तु-व्यक्ति से प्रेम के संदर्भ में सही भी हो, तो हो सकती है, क्योंकि प्रेम की जितनी वस्तुएँ, व्यक्ति व प्राणी हैं, उन्हें समीप रखकर भोग करने की छूट मिल भी जाए, तब भी उसका भोग नहीं किया जा सकता, सबको नजदीक भी नहीं लाया जा सकता। इसलिए जैन मुनि का कहना है कि 'प्रीत मैं उसे मानता हूँ जो अंगातीत होता है।' जो जहाँ है, उसे उसी स्थिति में प्रेम किया जाए, बेशक उसकी खराब दशा को सुधारने का प्रयास करना चाहिए–

जिस्म तो बहुत सँवर चुके, रूह का शृंगार कीजिए।
फूल तोड़िए न साख से, खुशबुओं से प्यार कीजिए।

मान लिया जाए कि कोई वस्तु जो अच्छी है, पर 'अपनी' नहीं है, तो उसे किसी तरह से प्राप्त करने का प्रयास करना लोभ है, उसकी पूर्ति न होने पर उसके सौंदर्य-गुण के नष्ट होने की कामना विद्वेष-ईर्ष्या है और जहाँ है, जिस रूप में है, उससे उच्चतम स्थिति में पहुँचाने की मंशा रखना प्रेम है। इस स्थिति में प्रेमी की मनोदशा मैथिली शरण गुप्त के शब्दों में इस प्रकार होती है–

हे मन! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन
आज स्वार्थ है त्याग भरा,
है अनुराग विराग भरा।

पर यह स्थिति कहाँ सुलभ है, क्योंकि आत्मिक ऐक्य उत्पन्न नहीं हुआ होता है; अत: अलगाव के कारण जीव अपने को भी परेशान रखता है और प्रेमी को भी। शत्रु माने जाने वाले की तो कोई बात ही नहीं है। हिन्दी कवि शमशेर बहादुर सिंह उच्चस्तरीय प्रेम की आकांक्षा इस प्रकार व्यक्त कर रहे हैं–

हाँ! तुम मुझसे प्रेम करो
जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं
जिनमें वे फँसने नहीं आतीं,
जैसे हवाएँ मेरे सीने से करती हैं
जिसको वे गहराई तक दबा नहीं पातीं,
तुम मुझसे प्रेम करो, जैसे मैं तुमसे करता हूँ।

यह बंधनहीन और एक धरातल का प्रेम है, जहाँ आधिपत्य का दावा नहीं किया जाता। दुष्यंत कुमार के अनुसार –

तुम्हें याद होगा प्रिय
जब तुमने आँख का इशारा किया था
तब मैंने हवाओं की बागडोर मोड़ी थी
खाक में मिलाया था पहाड़ों को
शीश पर बनाया था एक नया आसमान
जल के बहावों को मनचाही गति दी थी
किंतु वह प्रताप और पौरुष तुम्हारा था
मेरा तो नहीं था सिर्फ।

अहं की मृत्यु, भिन्नता व द्वयता के विभ्रम के नष्ट होने पर पूरी एकाकारता होती है। बहुत लोगों को शिकायत रहती

सच्चे प्रेमियों का तो मुँह मौन धारण किए रहता है और हृदय याद करता है, बिल्कुल कबीर की तरह, 'रोम-रोम पिउ पिउ करे, मुख की सरधा नाहीं।' प्रेम को मुँह से व्यक्त नहीं किया जाना चाहिए, सच्चा प्रेम व्यक्त हो भी नहीं सकता। इसके बारे में कहने और लिखने की कला प्रेम-कला नहीं है। कुछ विद्वानों जैसे ड्राइटन ने इसे मानव की दुर्बलता के रूप में देखा है तो कुछ ने प्रेम करने वाले को ही मूर्ख कहा है, शायद इसलिए भी, क्योंकि इसमें समझदारी खत्म हो जाती है।

है कि उनके प्रेमी या प्रेमिका उन्हें 'आई लव यू' नहीं कहते, किसी गलती पर 'सॉरी' और कृतज्ञ होने पर 'थैंक क्यू' नहीं बोलते। दूसरे को कहना चाहिए या नहीं, यह तो बाद का विवाद है, पहले ऐसा कहवाने की इच्छा रखना एक तरह का सामंती भाव है। प्रेम की कृत्रिम औपचारिकता ऊपर-ऊपर तैर रहा होता है, इसलिए ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। वास्तव में जो प्रेमी हैं, उन्हें ऐसा कहने-कहवाने की जरूरत नहीं। किसी शायर ने ठीक ही लिखा है–

जिन्हें है इश्क सादिक वे कहाँ फरियाद करते हैं।
लबों पर मुहरे खामोशी दिलों से याद करते हैं।

सच्चे प्रेमियों का तो मुँह मौन धारण किए रहता है और हृदय याद करता है, बिल्कुल कबीर की तरह, 'रोम-रोम पिउ पिउ करे, मुख की सरधा नाहीं।' प्रेम को मुँह से व्यक्त नहीं किया जाना चाहिए, सच्चा प्रेम व्यक्त हो भी नहीं सकता। इसके बारे में कहने और लिखने की कला प्रेम-कला नहीं है। इसलिए प्रेम विषय पर लिखने को कई लोगों ने मूर्खता कहा है– रवीन्द्र कालिया की तरह। कुछ विद्वानों जैसे ड्राइटन ने इसे मानव की दुर्बलता के रूप में देखा है तो कुछ ने प्रेम करने वाले को ही मूर्ख कहा है, शायद इसलिए भी, क्योंकि इसमें समझदारी खत्म हो जाती है। यूनानी और रोमन संस्कृति में प्रेम को रोग समझा जाता रहा है। लेकिन इतने विरोधाभासों के बावजूद प्रेम की सत्ता अक्षुण्ण है, कोई इसे कहता है, कोई करता है और कोई-कोई बिना कहे करता है।

शास्त्रों का कथन है कि प्रेमी युगलों के उच्चतम आदर्श श्रीकृष्ण और राधा एक ही ज्योति के दो स्वरूप हैं। जो श्रीकृष्ण हैं, वही राधा भी हैं और जो राधा हैं, वहीं श्रीकृष्ण भी हैं। एक रस-सागर होते हुए भी क्रीड़ा हेतु दो स्वरूप धारण करते हैं–

यः कृष्णः सापि राधा च या राधाकृष्ण एव सः।
एकं ज्योतिर्द्विधाभिन्नं राधा माधव रूपकम्।।

यह अहं के विसर्जन का मिलन है, जिसके लिए मनोविश्लेषणवादी फ्रायड ने भी कहा है कि 'प्रेम न तो यौन भावना का पर्याय है और न यौन भावना मात्र संपूर्ण जीवन का केन्द्र है, बल्कि प्रेम में रत प्राणियों की अपने अहं (ईगो) के विसर्जन द्वारा प्राप्त पूर्ण एकात्मकता है। यहाँ 'मैं' 'तू' का भेद मिट जाता है। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के श्रीकृष्ण के कथन का 'श्रीराधामाधव चिंतन' में हनुमान प्रसाद पोद्दार ने अच्छा भावार्थ प्रस्तुत किया है–

'मैं प्रियतम, तू प्रेयसि मेरी' यों कहना है मेरा प्रवाद।
'तू मम प्राण, प्राण मैं तेरे' यह भी है प्रलाप संवाद।।
'तू मेरी, मैं तेरी राधे।' यह भी नहीं साधु व्यवहार।
समुचित नहीं कभी हममें 'तू -मैं' की कोई भेद विचार।।

यही अपार्थक्य जब संपूर्ण सृष्टि से स्थापित हो जाता है तो सर्वत्र प्रेममयी आभा बिखरती है, तब सुमित्रानंदन पंत की तरह एहसास होता है कि 'एक ही तो असीम, उल्लास, विश्व में पाता विविधाभास' और 'तुम ही अखिल विश्व में या अखिल विश्व तुम में।' सारा जगत-व्यवहार इसी प्रेम तत्त्व के धारक आत्मा-परमात्मा का स्पंदन है। महादेवी वर्मा के शब्दों में–

यह क्षण क्या? द्रुत मेरा स्पंदन,
यह रज क्या? नव मेरा मृदु तन
यह जग क्या? लघु मेरा दर्पण
प्रिय तुम क्या? चिर मेरे जीवन
मेरे सब, सब में प्रिय तुम।

निष्कर्षतः प्रेम भाव चाहे अपने प्रति हो, दोस्तों के प्रति अथवा प्रेमी-प्रेमिकाओं के बीच या सृष्टि के कण-कण से जुड़ा सर्वव्यापक हो, अथवा परमात्मा के प्रति हो, इसकी जागृत भूमि में कोई कष्ट नहीं रहता, कोई दुःख नहीं होता, जीवन जीने का मकसद व तरीका बदल जाता है। यही हाल दुश्मनी में भी होता है। प्रेम करने वालों का दिनकर जी के शब्दों में पूरे जीवन का स्वाद ही बदल जाता है–

पड़ जाता चस्का जब मोहक,
प्रेम-सुधा पीने का,
सारा स्वाद बदल जाता है,
दुनिया में जीने का। ☆

प्रेम के लिए कुछ करने की जरूरत नहीं

❑ ओम प्रकाश शर्मा

प्रसिद्ध चिंतक मेनेशियम का कथन है कि यदि लक्ष्य तक पहुँचना है, तो तेजी से दौड़ने की जरूरत नहीं। इतना ही नहीं, मंजिल तक पहुँचने के लिए चलने तक की आवश्यकता नहीं। मेनेशियम का यह विचार प्रेम के संदर्भ में बिल्कुल सटीक बैठता है। प्रेम की कोई मंजिल नहीं है। प्रेम स्वयं ही मंजिल है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी को उसकी मनचाही हर चीज दे दी जाए और पूछा जाए कि अब इसको लेकर कहाँ जाओगे। वह बेचारा पूरी तरह सुख-सुविधा में है, अब उसे लेकर या छोड़कर कहाँ जाना है? सारे उपक्रम तो इसलिए किए थे। यही हाल प्रेम का भी है। प्रेम का आनंद ही इतना परिपूर्ण और तृप्ति प्रदान करने वाला होता है कि यदि यह उपलब्ध हो जाए तो इसे कौन छोड़ना चाहेगा? इसे यों भी समझा जा सकता है कि किसी अति महत्वाकांक्षी व्यक्ति को राष्ट्रपति जैसे सर्वोच्च पद पर बिठाकर उससे उसकी पद के संदर्भ में आगे की मंजिल पूछी जाए।

प्रथमदृष्ट्या लग सकता है कि भक्त के लिए भक्ति भगवान को पाने का साधन है और प्रेमी के लिए प्रेम अपने प्रेम-पात्र को पाने का मार्ग। भगवान या प्रेम-पात्र के मिलने पर क्या होगा? तब क्या भक्ति और प्रेम की जरूरत खत्म हो जाएगी, क्योंकि साधना-मार्ग की अनिवार्यता तो लक्ष्य-सिद्धि तक पहुँचाने की है। लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि भक्ति और प्रेम लक्ष्य भी हैं और साधन भी। भक्त भक्ति की चरमावस्था में अपने को भगवान में विलीन कर ले और प्रेमी अपनी उद्दाम प्रेमावस्था में अपने प्रेम लक्ष्य में ही समाहित हो जाए, तब भक्ति और प्रेम का आनंद कहाँ मिलेगा? याद रहे प्रेम और भक्ति का अस्तित्व ही दो अलग-अलग होने की स्थिति पर टिका है। जहाँ अद्वयता होगी, वहाँ प्रेम कैसा, किसके लिए, क्यों और कौन करेगा।

हालांकि प्रेम में प्रेमी-प्रेमिका की एकाकारता और भक्ति में भक्त और भगवान की एकाकारता चरम लक्ष्य रखा गया है। यह एकाकारता भी मन, आत्मा, शरीर तीनों स्तरों पर होनी चाहिए। लेकिन एकाकारता का लक्ष्य शायद इसलिए है, क्योंकि संसार में इसके उदाहरण नहीं मिलते। जब एकाकारता की स्थिति आएगी—प्रेम व भक्ति खत्म हो जाएगी। फिर कौन चाहेगा कि प्रेम और भक्ति खत्म हो जाए, न तो प्रेमी-प्रेमिका और न भक्त ही। इसलिए महादेवी वर्मा कहती हैं कि परम प्रिय की ओर बढ़ने वाला प्रत्येक कदम ही सिद्धि का वरदान है—

पथ मेरा निर्वाण बन गया,
प्रति पग शत वरदान बन गया।

प्रेम जब उदात्तता में ईश्वर के प्रति होता है, तब इसे भक्ति कहते हैं। संसार की वस्तु के प्रति अनन्य लगाव सांसारिक प्रेम है और भगवान के प्रति अनन्यता अलौकिक प्रेम। जब प्रेम के लिए स्वार्थ-कामना की तिलांजलि देनी पड़ती है, तो भक्ति और अधिक उच्च भाव है, उसके लिए स्वार्थ-कामना तो और खतरनाक है। निस्वार्थ प्रेम और निष्काम कर्म उच्चतम हैं। जब कर्म के लिए निष्कामता बड़ा गुण है, तो फिर भक्ति का निष्काम होना तो और

जरूरी है। प्रेम जीवन का मूलभूत सरोकार है; मनुष्यता ही नहीं, जड़-चेतन पदार्थों का नैसर्गिक भाव है। यह वह दशा है, जिस पर पूरी सृष्टि टिकी है, इसी भाव के कारण पल-पल परिवर्तन भी होता रहता है।

प्रेम मनुष्यता का स्वाभाविक गुण है, लेकिन लोग अपनी इस स्वाभाविक प्रकृति को विकसित नहीं कर पाते। जो विकसित कर भी पाते हैं, उनकी दृष्टि और दिशा ठीक नहीं होती। सारी जिंदगी प्रेम के विरोधी भावों का ही पोषण करते हैं। मनुष्य अपनी स्वाभाविकता में रहे, तो उसका स्वत: विकास होगा। इसके लिए कुछ करने की जरूरत भी नहीं है, केवल बनावटी व्यवहारों से बचपन से दूर रहना-रखना जरूरी है। जहाँ ऐसा होगा वहाँ प्रेम उत्पन्न होगा, जिंदगी में बाकी दुर्गुण आएँगे ही नहीं। बचपन से अच्छी चीजों को देखकर पाने की ललक पैदा करने की बजाय उससे प्रेम करना सिखाना चाहिए। इस ललक के मूल में उस वस्तु का सौंदर्य होता है, सौंदर्य के कारण ही हम आकर्षित होते हैं। परंतु जो सौंदर्य की परम्परागत कसौटी पर खड़े नहीं उतरते या जो कम सुंदर हैं, उन्हें प्रेम-पात्र बनने का अधिकार नहीं? नहीं, उन्हें भी प्रेमी और प्रेम-पात्र बनने का अधिकार है। इस रूप में सौंदर्य से जो प्रेम उमड़ता है, उसमें कुछ-न-कुछ मात्रा में लोभ भी आ जाता है। यह सौंदर्याधारित प्रेम हमें सम्मोहित आकर्षित करके संभव हो तो पाने के लिए विवश करता है, कम-से-कम मन के किसी कोने में ऐसी लालसा तो जगा ही देता है। इसकी कामना-पूर्ति में किसी व्यवधान से क्षोभ उत्पन्न होता है, जो प्रेम का विपरीत भाव है। सौंदर्य पर आधारित प्रेम हमें उसे पाने के लिए प्रेरित करता है, जब इसमें रूकावट आती है तो कहते हैं, इसमें तीक्ष्ण धार आती है, प्रेम मजबूत होता है। वियोग के बाद का मिलन ज्यादा सुखदायक होता है। सारी प्रेम-कहानियों में यही तो है कि नायक या नायिका कितनी कठिनाइयों-विपत्तियों को झेलते हुए मिलते हैं, कई बार मिलने की आतुरता में सब कुछ खो देते हैं, अपनी जिंदगी भी। यहाँ सारी मर्यादाएँ तोड़कर मिलने की विजय की खुशी तो हो सकती है, लेकिन प्रेम का आनंद इससें कहीं आगे और बड़ा है। यह एक के प्रति प्रेम कइयों को दुश्मन बना लेता है, इसके चक्कर में बाकियों से प्रेम नहीं रह पाता, लेकिन इसमें प्रेमी युगलों का क्या दोष है? दोष है, क्योंकि उन्होंने प्रेम को कुछ पा लेने की मंशा से जोड़ दिया।

बचपन से अच्छी चीजों को देखकर पाने की ललक पैदा करने की बजाय उससे प्रेम करना सिखाना चाहिए। इस ललक के मूल में उस वस्तु का सौंदर्य होता है, सौंदर्य के कारण ही हम आकर्षित होते हैं। परंतु जो सौंदर्य की परम्परागत कसौटी पर खड़े नहीं उतरते या जो कम सुंदर हैं, उन्हें प्रेम-पात्र बनने का अधिकार नहीं? नहीं, उन्हें भी प्रेमी और प्रेम-पात्र बनने का अधिकार है। इस रूप में सौंदर्य से जो प्रेम उमड़ता है, उसमें कुछ-न-कुछ मात्रा में लोभ भी आ जाता है। यह सौंदर्याधारित प्रेम हमें सम्मोहित आकर्षित करके संभव हो तो पाने के लिए विवश करता है, कम-से-कम मन के किसी कोने में ऐसी लालसा तो जगा ही देता है। इसकी कामना-पूर्ति में किसी व्यवधान से क्षोभ उत्पन्न होता है, जो प्रेम का विपरीत भाव है।

प्रेम के उस भाव को अपनाया जाए जो पाने के लिए न हो, बल्कि स्वयं को ऊर्जावान बनाने के लिए हो। मान लीजिए किसी खेत की हरियाली वाली सुंदरता को देखकर आप इतने विभोर हो जाते हैं कि आप को लगता है कि इसके नित्य दर्शन होते तो अच्छा होता। सोचिए, यदि वह खेत आपका होता, तो क्या होता? आप जहाँ-जहाँ जाते उस खेत को ले जाते, चौबीसों घंटे उसी के दर्शन करते? नहीं, आप रहेंगे-चलेंगे एक समय एक ही में। इसीलिए सुंदरता को देखकर उसकी कामना रखना प्रेम नहीं, लोभ-लिप्सा-मोह है और बिना किसी कामना के उसमें

सौंदर्य का पान प्रेम है। इसलिए प्रेम में कुछ करने की जरूरत नहीं, सिर्फ अपनी आत्मा को पहचान कर उससे प्रेम किया जाए, तब सब से प्रेम होगा। चाहे दूसरे इसे जाने या ना जाने। कई बार आपको ऊर्जावान व तृप्त करने वाला प्रेम दूसरे को खलल डालने के लिए प्रेरित भी करता है, क्योंकि उनका प्रेम कहीं और से उदित होता है और उसके प्रेम की परिभाषा भी अपने ढंग की है। वे कहेंगे कि उनके बिना आपका प्रेम कैसे पूर्ण होगा।

आखिर आपका प्रेम उनके आलंबन के बिना कैसे परिपूर्ण हो सकता है? उनके बिना आप ऊर्जावान और स्वप्रेम-निर्भर कैसे हो सकते हैं, उन्हें यह पता नहीं कि इस 'स्वप्रेम' में वे भी हैं, लेकिन वे जहाँ से 'स्व' में समाविष्ट हैं, वह उनके लिए कोई मायने नहीं रखता। उनके आप से प्रेम का मार्ग दूसरा और कुछ हद तक निराला है। याद कीजिए, भगवान और देवदूत होने के कारण राम, कृष्ण, ईसा मसीह का रावण, कंस, फाँसी पर लटकाने वाले के प्रति प्रेम नहीं रहा होगा? अवश्य रहा होगा, फिर क्या कारण था कि लौकिक-पारलौकिक प्रेम-शक्ति से परिपूर्ण होकर भी उन्हें जीते जी अपनी ओर खींच न पाए। मरने के बाद वे जरूर आए, लेकिन यह मिलन शत्रुता का मिलन था, प्रेम पर द्वेष की जीत थी, लक्ष्य जाने-अनजाने एक था—मार्ग विपरीत। यह तो मानना ही पड़ेगा कि राम, कृष्ण, ईसा, जैसे लोग द्वेष-शत्रुता तो नहीं रखते होंगे, फिर उनसे प्रियता की जगह शत्रुता क्यों मोल ली गई और उसकी कीमत इन्हें क्यों चुकानी पड़ी। रावण और कंस तो राम व कृष्ण के ही अंश थे, जब थे तो प्रेम भी होगा, लेकिन उन्होंने अपना मार्ग अपने संस्कारों से निर्मित किया, और उत्तेजित भी वही करते रहे। अब इसमें राम, कृष्ण, ईसा मसीह आदि का क्या दोष और उनके प्रेम में क्या खोट। इसलिए आपका हृदय चाहे कितना विशाल हो, स्नेह-प्रेम-श्रद्धा से युक्त हो, निस्वार्थी और निष्कामी हो, लेकिन छोटे-खोटे तो अपनी जगह अपने तरीके से तलाशेंगे, उन्हें वह धरातल उपलब्ध करा देंगे तो उनके प्रेमी होंगे अन्यथा वैरी। ऐसों से मिलना कौन-सा कहर ढाएगा— अनुमान लगाना मुश्किल है। ऐसे मिलन से परे खुशी आनंद तलाशिए फैज अहमद फैज के शब्दों के जादू की तरह— 'और भी गम हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा, राहतें और भी हैं वस्ल (मिलन) की राहत के सिवा।'

पर आप भी अपने को बहुत बड़ा प्रेमी मत मान लीजिए, क्योंकि ऐसा होता तो बहुत कुछ हो गया होता। लेकिन सद्प्रेमी बनने के गुणों का विकास जरूर कीजिए और तब तक कवि शमशेर बहादुर सिंह की तरह कहते रहिए—

चुका भी हूँ मैं नहीं
कहाँ किया मैंने प्रेम अभी
जब करूँगा प्रेम
पिघल उठेंगे युगों के भूधर
उफन उठेंगे सात सागर
किंतु मैं हूँ मौन आज
कहाँ सजे मैंने साज अभी। ☆

साहस की जिंदगी सबसे बड़ी जिंदगी है। साहसी मनुष्य की पहली पहचान है कि वह इस बात की चिंता नहीं करता कि तमाशा देखने वाले लोग उसके बारे में क्या सोच रहे हैं। जनमत की उपेक्षा करके जीने वाला आदमी दुनिया की असली ताकत होता है और मनुष्यता को प्रकाश भी उसी आदमी से मिलता है। अड़ोस-पड़ोस को देखकर चलना साधारण जीव का काम है। क्रांति करने वाले लोग अपने उद्देश्य की तुलना न तो पड़ोसी के उद्देश्य से करते हैं और न अपनी चाल को पड़ोसी की चाल देखकर मद्धिम बनाते हैं।

रामधारी सिंह 'दिनकर'

कानों में कंगना

❒ राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

'किरण! तुम्हारे कानों में यह क्या है?'

उसने कानों से चंचल लट को हटाकर कहा, 'कंगना।'

सचमुच दो कंगन कानों को घेरकर बैठे थे।

'अरे, कानों में कंगना?'

'हाँ... तब कहाँ पहनूँ?'

किरण अभी भोली थी। दुनिया में जिसे भोली कहते हैं, वैसी भोली नहीं, उसे वन के फूलों का भोलापन समझो। नवीन उद्यान के फूलों की भंगी नहीं, विविध खाद या रस से जिनकी जीविका है, निरंतर काट-छाँट से जिनका सौंदर्य है, जो दो घड़ी चंचल, चिकने बाल की भूषा हैं, जो दो घड़ी तुम्हारे फूलदान के गौरव हैं, वैसे - वन के फूल-ऐसे नहीं। प्रकृति के हाथों से लगी है, मेघों की धारा से बढ़ी है, चटुल दृष्टि उसे पाती नहीं, जगत-वायु उसे छूती नहीं। यह सरल, सुन्दर सौरभमय जीवन है। जब जीवित रहे तब चारों तरफ अपने प्राण-धन से हरे-भरे रखे, जब समय आया तब अपनी माँ की गोद में झर पड़े।

आकाश स्वच्छ था। नील, उदार, सुन्दर पत्ते चुप थे, शांत थे। संध्या हो चली थी। सुनहली किरणें सुंदर पर्वत की चूड़ा से देख रही थीं। वह पतली किरण अपनी मृत्यु-शैय्या से इस शून्य, निविड़ कानन में क्या ढूँढ़ रही थी-कौन कहे? किसे एकटक देखती थी, कौन जाने? अपनी लीला-भूमि को सस्नेह करुण चाहती थी या हमारे बाद वहाँ क्या हो रहा है, इसे जानना चाहती थी? मैं क्या बता सकता हूँ? उस भंगी में आकांक्षा अवश्य थी। मैं तो खड़ा-खड़ा उन बड़ी-बड़ी आँखों की किरण लूटता था। आकाश में तारों को देखा, या उन मनोहर आँखों को देखा, बात एक ही थी। हम दूर से तारों के सुंदर, शून्य झिकमिक को बार-बार देखते हैं लेकिन वह निस्पंद, निश्चेष्ट ज्योति सचमुच भावहीन है या आप-ही-आप अपनी अंतर-लहरों में मस्त है, इसे जानना आसान नहीं। हमारी ऐसी आँखें कहाँ कि उनके सहारे उस निगूढ़ अंतर में डूबकर थाह लें?

मैं रसाल की डाली थामकर पास ही खड़ा था। वह बालों को हटाकर कंगना दिखाने की भंगी प्राणों में रह-रहकर उठती थी। जब माखन चुराने वाले ने गोपियों के सर के मटके को तोड़कर उनके भीतरी किले को तोड़ डाला, या नूरजहाँ ने आँचल से कबूतर उड़ाकर शहंशाह के कठोर हृदय की धज्जियाँ उड़ा दीं, फिर नदी-किनारे वसंत-वल्लभ रसाल-पल्लवों की छाया में बैठी किसी अपरूप बालिका की सरल स्निग्ध लीला एक मानव अंतर पर क्यों न दौड़े? किरण इन आँखों के सामने प्रतिदिन आती ही जाती थी। कभी आम के टिकोरे से आँचल भर लाती, कभी मौलसरी फूलों

जिस पंचवटी के अनन्त यौवन को देखकर राम की आँखें भी खिल उठी थीं, वहाँ के निवासियों ने अमर तरु के सुन्दर फूलों की माला नहीं चाही, मन्दाकिनी के छीटों की शीतलता नहीं ढूंढ़ी। वृन्दावन का सानी कहीं वन भी था? कल्पवृक्ष की छाया में शांति अवश्य है, लेकिन कदम की छाँह की शांति कहाँ मिल सकती है? हमारी-तुम्हारी आँखों ने कभी नन्दोत्सव की लीला नहीं देखी, लेकिन इसी भूतल पर एक दिन ऐसा उत्सव हो चुका है, जिसको देख-देखकर प्रकृति रजनी छः महीने तक ठगी रही, शत-शत देवांगनाओं ने पारिजात के फूल की वर्षा से नन्दनकानन को उजाड़ डाला।

की माला बना लाती; किंतु कभी भी ऐसी बात-सुलभ लीला आँखों से होकर के हृदय तक नहीं उतरी, आज क्या था? कौन शुभ या अशुभ क्षण था कि अचानक वह बनैली लता मन्दार-माला से भी कहीं मनोरम दीख पड़ी? कौन जानता था कि चाल से कुचाल जाने में, हाथों के कंगन भूलकर कानों में पहनने में इतनी माधुरी थी, दो टके के कंगनों में ऐसी शक्ति है। गोपियों को कभी स्वप्न में भी न झलका था कि बाँस की बाँसुरी में घूँघट खोलकर नचा देने की शक्ति है।

मैंने चटपट उसके कानों से कंगना उतार लिया, फिर धीरे-धीरे उसकी उँगलियों पर चढ़ाने लगा। न जाने इस घड़ी कैसी खलबली थी, मुँह से अचानक निकल आया 'किरण, आज की यह घटना मुझे मरते दम तक न भूलेगी। यह, भीतर तक पैठ गयी।'

उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और भी बड़ी हो गयीं। मुझे चोट-सी लगी। मैं तत्काल योगीश्वर की कुटी की ओर चल पड़ा, प्राण भी उसी समय नहीं चल पड़े, यही विस्मय था।

एक दिन था कि इस दुनिया से दूर रहकर भी लोग दूसरी दुनिया का सुख उठाते थे। हरिचन्दन के पल्लवों की छाया भूलोक पर कहाँ मिले; किंतु किसी समय हमारे यहाँ भी ऐसे वन थे, जिनके वृक्षों की छाया में दो घड़ी घाम निवारने के लिए स्वर्ग से देवता तक उतर आते थे। जिस पंचवटी के अनन्त यौवन को देखकर राम की आँखें भी खिल उठी थीं, वहाँ के निवासियों ने अमर तरु के सुन्दर फूलों की माला नहीं चाही, मन्दाकिनी के छीटों की शीतलता नहीं ढूंढ़ी। वृन्दावन का सानी कहीं वन भी था? कल्पवृक्ष की छाया में शांति अवश्य है, लेकिन कदम की छाँह की शांति कहाँ मिल सकती है? हमारी-तुम्हारी आँखों ने कभी नन्दोत्सव की लीला नहीं देखी, लेकिन इसी भूतल पर एक दिन ऐसा उत्सव हो चुका है, जिसको देख-देखकर प्रकृति रजनी छः महीने तक ठगी रही, शत-शत देवांगनाओं ने पारिजात के फूल की वर्षा से नन्दनकानन को उजाड़ डाला।

समय ने कुछ पलट दिया। अब ऐसे वन नहीं, जहाँ कृष्ण गोलोक से उतरकर दो घड़ी वंशी टेर दें। ऐसे कुटीर नहीं, जिनके दर्शन से रामचन्द्र का अन्तर भी प्रसन्न हो, या ऐसे मुनीश नहीं, जो धर्म-धुरंधर धर्मराज को भी धर्म में शिक्षा दें।

यदि एक-दो भूले भटके हैं भी, तब अभी तक उन पर दुनिया का परदा नहीं उठा—जगन्माया की माया नहीं लगी। लेकिन कब तक बचे रहेंगे? लोगक अपने यहाँ अलौकिक बातें कब तक होने देगा?

ऋषिकेश के पास एक सुन्दर वन है; सुन्दर नहीं अपरूप सुन्दर है। वह प्रमदावन के विलास-निकुंजों से सुन्दर नहीं, वरंच चित्रकूट या पंचवटी की महिमा से मंडित है। वहाँ चाँदनी में बैठकर कानक-घुँघरू की इच्छा नहीं होती; पंचप्राणों में ऐसी आवेग-धारा उठती है, जो कभी आनन्द साधना के कूल पर पहुँचाती है, कभी जीव-जगत के एक-एक तत्त्व से दौड़ मिलाती है। गंगा की अनन्त महिमा, वन की निविड़ योग-निद्रा नहीं देख पड़ेगी। कौन कहे, वहाँ जाकर यह चंचल चित्त क्या चाहता है, गंभीर अलौकिक आनंद या शांत सुन्दर मरण?

इसी वन में कुटी बनाकर योगीश्वर रहते थे। योगीश्वर, योगीश्वर ही थे।

यद्यपि वह भू-तल ही पर रहते थे, तथापि उन्हें इस लोक का जीव कहना यथार्थ नहीं था। उनकी चित्त-वृत्ति सरस्वती के श्रीचरणों में थी। या ब्रह्मलोक की आनन्द शांति में लिपटी थी। और वह बालिका स्वर्ग से एक किरण उतरकर उसे घने जंगल में उजेला करती फिरती थी। वह लौकिक माया-बद्ध जीवन नहीं था। उसे बंधनरहित, बाधाहीन नाचती किरणों की रेखा कहिए। मानो मत्त, चंचल मलय-वायु फल-फल पर, डाली-डाली पर डोलती फिरती हो, या कोई मूर्तिमती अमर संगीत बेरोक-टोक हवा पर या जल के तरंग-भंग पर नाच रही हो। मैं ही वहाँ इस लोक का प्रतिनिधि था। मैं ही उन्हें उनकी अलौकिक स्थिति से इस जटिल मर्त्यराज में खींच लाता था।

कोई साल-भर से मैं योगीश्वर के यहाँ आता-जाता था। पिता की रुचि थी कि उनके यहाँ जाकर अपने धर्म के ग्रन्थ सब पढ़ डालो। योगीश्वर और बाबा लड़कपन के साथी थे, इसलिए उनकी मुझ पर इतनी दया थी। किरण उनकी लड़की थी, उस कुटीर में एक वही दीपक थी। जिस दिन की घटना मैं लिख आया हूँ, उसी दिन सबेरे मेरे अध्ययन की पूर्णाहुति थी, और मैं बाबा के कहने पर एक जोड़ा पीताम्बर, स्वर्ण-मुद्रा तथा किरण के लिए दो कनक-कंगन आचार्य के निकट ले गया था। योगीश्वर ने सब लौटा दिया, केवल कंगन को किरण उठा ले गयी। वे नहीं मालूम क्या समझकर चुप रह गए। समय का अद्‌भुत चक्र है। जिस दिन मैंने धर्म-ग्रंथ से मुँह मोड़ा, उसी दिन कामदेव के यहाँ जाकर उनकी किताब का पहला पन्ना पलटा।

दूसरे दिन मैं योगीश्वर से मिलने गया। वह किरण को पास बिठाकर न जाने क्या-क्या पढ़ा रहे थे। उनकी आँखें गंभीर थीं। मुझको देखते ही वह उठ खड़े हुए और मेरे कंधे पर हाथ रखकर गद्‌गद स्वर से बोले, 'नरेन्द्र! अब मैं चला, किरण तुम्हारे हवाले है।' यह कहकर उन्होंने उसकी सुकोमल उँगलियों को मेरे हाथ में रख दिया। लोचनों के कानों पर दो बूँद निकलकर झाँक पड़ीं। मैं सहम उठा—क्या उन पर सब बातें विदित थीं? क्या उनकी तीव्र दृष्टि मेरी अन्तर्लहरी तक डूब चुकी थी? वे ठहरे नहीं, चल दिए। मैं काँपता रह गया। किरण देखती

रह गयी।

वन-वायु भी आवाक् हो गयी। हम दोनों चल पड़े। किरण मेरे कंधे पर हाथ रखे थी। हठात् अन्तर से कोई पकड़कर कह उठा, 'हाय नरेन्द्र, यह क्या? तुम इस वनफूल को किस उद्यान में ले चले? इस बंधन-विहीन जीवन को किस लोक-जाल में बाँधने ले चले?'

कंकड़ी जल में जाकर कोई स्थायी विवर नहीं फोड़ सकती। क्षण-भर का समतल भले ही उलट-पुलट हो, लेकिन इधर-उधर से जल-तरंग दौड़कर किसी छिद्र का चिन्हमात्र भी नहीं रहने देते। जगत की भी यही चाल है। यदि स्वर्ग से देवेन्द्र भी भागकर इस लोक चला-चल से खड़े हों, फिर संसार देखते-ही-देखते उन्हें अपना बना लेगा। इस काली कोठरी में आकर इसकी कालिमा से बचा रहे, ऐसी शक्ति अब आकाश-कुसुम ही समझो। दो दिन में राम 'हाय जानकी' कहकर वन-वन भटकते फिरे वो फिर दो क्षण में वही विश्वामित्र को स्वर्ग से घसीट लाया।

किरण की वही अवस्था हुई। कहाँ प्रकृति की निर्मुक्त गोद, कहाँ जगत का जटिल-बंधन-पाश? कहाँ-से-कहाँ आ पड़ी। वह अलौकिक भोलापन, वह निसर्ग उच्चावास हाथोंहाथ लुट गए। उस वन की मायावी मनोहरिता में परिणत हुई। अब आँखें उठाकर आकाश से नीरव बातचीत करने का अवसर कहाँ से मिले, मलयवायु से मिलकर मलयाचल के फूलों की पूछताछ क्योंकर हो?

जब किरण नये साँचे में ढलकर उतरी, उसे पहचानना भी कठिन था। अब वह लाल, पीली, हरी साड़ी पहनकर सिर पर सिन्दूर लेखा सजती, और हाथों में कंगन, कानों में बाली, गले में कंठी तथा कमर में करधनी, दिन-दिन उसके चित्त

को नचाए मारती थीं। जब कभी वह सज-धजकर चाँदनी में कोठे पर जाती और वसंत वायु उसके आँचल से मोतियों की लपट लाकर मेरे बरामदे में भर देती, उस समय किसी मतवाली माधुरी की तीव्र मंदिरा के नशे से मेरा मस्तिष्क घूम जाता और चटपट अपना प्रेम-चीत्कार फूलदार रंगीन चिट्ठी में भरकर जूही के हाथ ऊपर भिजवाता, या बाजार से दौड़कर कटकी गहने या विलायती चूड़ी खरीद लाता। लेकिन जो हो, अब भी कभी-कभी उसके प्रफुल्ल बदन पर उस आलोक की छटा पूर्वजन्म का सुख स्मृतिवत् चली आती थी और आँखें उसी जीवन्त, सुन्दर झिकमिक का नाच दिखाती थीं। अब अन्तर प्रसन्न था तब बाहरी चेष्टा पर प्रतिबिम्ब क्यों न पड़े?

यों ही साल-दो-साल मुरादाबाद में कट गये। एक दिन मोहन के यहाँ नाच देखने गया। वहीं किन्नरी से आँख मिली, मिली क्या लीन हो गयी। नवीन यौवन, कोकिल कंठ, चतुर, चंचल चेष्टा तथा मायावी चकमक। अब चित्त को चलाने के लिए और क्या चाहिए। किन्नरी सचमुच किन्नरी ही थी। नाचनेवाली नहीं नचानेवाली थी। पहली बार उसे इस लोक की सुन्दरी समझना दुस्तर था, एक लपट-सी लगती, कोई नशा-सा चढ़ जाता, यारों ने मुझे और भी चढ़ा दिया। आँखें मिलती मिलाती रह गयीं। हृदय को भी साथ-साथ घसीट ले गयीं।

फिर क्या था—इतने दिनों की धर्मशिक्षा, शत वत्सर की पूज्या लक्ष्मी, बाप-दादों की कुल-प्रतिष्ठा, पत्नी से पवित्र प्रेम एक-एक करके ये सब उस प्रदीप्त वासना कुंड में भस्म होने लगे। अग्नि और भी बढ़ती गयी। किन्नरी की चिकनी दृष्टि, चिकनी बातें घी बरसाती रहीं। घरबार सब जल उठा। मैं भी निरंतर जलने लगा, लेकिन ज्यों-ज्यों जलता गया, जलने की इच्छा जलाती रही।

पाँच महीने कट गए। नशा उतरा नहीं। बनारसी साड़ी, पारसी जैकेट, मोती का हार, कटकी काम, सब कुछ लाकर उस मायाकरी के अलकरंजित चरणों पर रक्खा। और किरण? हेमन्त की मालती बनी थी, जिसके कारण घर एक फूल

'मैं फिर पुकार उठा, 'किरण, तुम्हारे पास कोई और गहना भी बच गया है?' 'हाँ?' क्षीण कंठ की काकली थी। 'कहाँ है–अभी देखने दो।' उसने धीरे से घूँघट सरकाकर कहा, 'वही कानों का कंगना।' सर तकिए से ढल पड़ा। आँखें भी झप गयीं। वह जीवन्त रेखा उड़ गयी? क्या इतने ही के लिए अब तक ठहरी थी? मेरी आँखें मुख पर जा पड़ीं–वही कंगन थे, वैसे ही कानों को घेरकर बैठे थे। मेरी स्मृति तड़िद्वेग से चमक उठी। दुष्यन्त ने अँगूठी को पहचान लिया था–भूली शकुंतला तत्क्षण याद आ गयी थी। लेकिन दुष्यन्त सौभाग्यशाली थे, चक्रवर्ती राजा थे, अपनी प्राणप्रिया को आकाश-पाताल छानकर ढूँढ़ निकाला। मेरी किरण तो इस भूतल पर नहीं थी कि किसी तरह प्राण देकर भी पता पाता। परलोक से ढूँढ़ निकालूँ, ऐसी शक्ति इस हीन-दीन मानव में कहाँ?

नहीं–एक पल्लव नहीं।

घर की वधू क्या करती? जो अनन्त सूत्र से बँधा था, वही हाथोंहाथ पराये के हाथ बिक गया। किंतु ये तो दोनों चकमकी खिलौने थे। इन्हें शरीर बदलते क्या देर लगे? दिन-भर बहाने की माला गूँथ-गूँथकर किरण के गले में और रात्रि की मोती की माला उस नाचनेवाली या नचानेवाली के गले में सशंक, निर्लज्ज डाल देता, यही मेरा कर्त्तव्य, धर्म, नियम हो उठा। एक दिन सारी बातें खुल गयीं। किरण, पछाड़ खाकर जमीन पर जा पड़ी। उसकी आँखों में आँसू न थे, मेरी आँखों में दया न थी।

बरसात की रात थी। रिमझिम बूँदों की झड़ी लगी हुई थी। चाँदनी मेघों में आँख मुन्दौअल खेल रही थी। बिजली लोल कपाट से बार-बार झाँकती थी। वह किसे चंचल देखती थी और बादल किस मसोस से रह-रहकर चिल्लाते थे, इन्हें सोचने का मुझे अवसर ही न था।

मैं तो किन्नरी की दरवाजे से हताश लौटा था। आँखों के ऊपर न चाँदनी थी, न बदली। त्रिशंकु ने स्वर्ग जाते-जाते बीच ही में टँगकर किस दु:ख को उठाया, और मैं तो अपने स्वर्ग के दरवाजे पर सर रखकर निराश लौटा था, मेरी वेदना क्यों न बड़ी हो? हाय! एक अँगूठी भी रहती तो उसे दिखलाकर उसके चरणों से चन्दन चाटता।

घर पर आते ही जूही को पुकार उठा, 'जूही! जूही! किरण के पास कुछ भी बचा-बचा हो तो फौरन जाकर माँग लाओ।' ऊपर से कोई आवाज नहीं आयी। केवल सर के ऊपर से एक काला बादल, कालांत चीत्कार से चिल्ला उठा। मेरा मस्तिष्क घूम गया। मैं तत्क्षण कोठे पर दौड़ा।

सब सन्दूक-झांपे, जो कुछ मिला, सब तोड़ डाला। लेकिन मिला कुछ भी नहीं। आलमारी में केवल मकड़े का जाल था।शृंगार बक्स में एक छिपकली बैठी थी। उसी दम किरण पर झपटा।

पास जाते ही सहम गया। वह एक तकिये के सहारे नि:सहाय, निस्पन्द लेटी हुई थी। चाँदनी ने खिड़की से आकर उसे गोद में ले रखा था। और वायु उस शांत शरीर पर जल-भिगोया पंख झल रही थी। मुख पर एक अपरूप छटा थी। कौन कहे कहीं जीवन की शेष रश्मि क्षण-भर वहीं अटकी हो। आँखों में एक नवीन ज्योति थी, शायद प्राण शरीर से निकलकर किसी आसरे से वहीं बैठ रहा था। मैं फिर पुकार उठा, 'किरण, तुम्हारे पास कोई और गहना भी बच गया है?'

'हाँ?' क्षीण कंठ की काकली थी।

'कहाँ है–अभी देखने दो।'

उसने धीरे से घूँघट सरकाकर कहा, 'वही कानों का कंगना।'

सर तकिए से ढल पड़ा। आँखें भी झप गयीं। वह जीवन्त रेखा उड़ गयी? क्या इतने ही के लिए अब तक ठहरी थी?

मेरी आँखें मुख पर जा पड़ीं–वही कंगन थे, वैसे ही कानों को घेरकर बैठे थे।

मेरी स्मृति तड़िद्वेग से चमक उठी। दुष्यन्त ने अँगूठी को पहचान लिया था–भूली शकुंतला तत्क्षण याद आ गयी थी। लेकिन दुष्यन्त सौभाग्यशाली थे, चक्रवर्ती राजा थे, अपनी प्राणप्रिया को आकाश-पाताल छानकर ढूँढ़ निकाला। मेरी किरण तो इस भूतल पर नहीं थी कि किसी तरह प्राण देकर भी पता पाता। परलोक से ढूँढ़ निकालूँ, ऐसी शक्ति इस हीन-दीन मानव में कहाँ?

सारी बातें सूझ गयीं। चढ़ा नशा उतर पड़ा। आँखों पर की पट्टी खुल गयी, लेकिन हाय! खुली भी तो उस समय जब जीवन में केवल अंधकार-ही-अंधकार रह गया। ☆